

आचार्यश्री विद्यानन्द व्याख्यान

प्राकृत साहित्य एवं पाण्डुलिपि सम्पादन-कला

द्वारा

प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन

पूर्व डीन, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

आयोजक

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली

एवं विद्याभूषण ट्रस्ट, नई दिल्ली

25 जुलाई 2016

प्राकृत का अर्थ एवं महत्व

प्राचीन विद्वान् नमिसाधु के अनुसार प्राकृत शब्द का अर्थ है – व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन—व्यापार । उससे उत्पन्न अथवा वही वचन— व्यापार प्राकृत है । प्राक् कृत पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहिले किया गया । जैनधर्म के द्वादशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहिले किये गये हैं । अतः उनकी भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि सभी को सुबोध है । इसी प्राकृत के देश—भेद एवं संस्कारित होने से अवान्तर विभेद हुए हैं । जन सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है । आठवीं शताब्दी के कवि वाक्पतिराज ने भी कहा है कि—सभी भाषाएं इसी (जनबोली प्राकृत) से निकलती हैं और इसी को प्राप्त होती हैं । जैसे जल (बादल के रूप में) समुद्र से निकलते हैं और समुद्र को ही (नदियों के रूप में) आते हैं ' ।

प्राकृत के बहुविध प्रयोग

महावीर,, बुद्ध, तथा उनके चारों ओर दूर-दूर तक के विशाल जन-समूह को मातृभाषा के रूप में प्राकृत उपलब्ध हुई । । जिस प्रकार वैदिक भाषा को आर्य संस्कृति की भाषा होने का गौरव प्राप्त है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा को **आगम भाषा / आर्य भाषा** होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है । प्राकृत जन-भाषा के रूप में इतनी प्रतिष्ठित थी कि उसे सम्राट अशोक के समय में **राज्यभाषा** होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है । और उसकी यह प्रतिष्ठा सैकड़ों वर्षों तक आगे बढ़ी है । देश के अन्य नरेशों ने भी प्राकृत में लेख एवं मुद्राएं अंकित करवायीं । यह सामग्री प्राकृत भाषा के विकास कम एवं महत्व के लिए ही उपयोगी नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास के लिए भी महत्वपूर्ण दस्तावेज है । महाकवि हाल ने इसी समय प्राकृत भाषा के प्रतिनिधि कवियों की गाथाओं का गाथाकोश (गाथासप्तशती) तैयार किया, जो ग्रामीण जीवन और सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिधि ग्रन्थ है । प्राकृत यहां **लोकभाषा** के रूप में प्रतिष्ठित हुई ।

अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम

प्राकृत भाषा के इस जनाकर्षण के कारण कालिदास आदि महाकवियों ने अपने नाटक ग्रन्थों में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों को प्रमुख स्थान दिया । समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत भाषा प्राकृत थी । इस कारण प्राकृत की शब्द-सम्पत्ति दिनोंदिन बढ़ रही थी । इस शब्द-ग्रहण की प्रक्रिया के कारण एक ओर प्राकृत ने भारत की विभिन्न-भाषाओं के साथ अपनी घनिष्टता बढ़ायी तो दूसरी ओर वह जीवन और साहित्य की **अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम** बन गयी ।

प्राकृत साहित्य की काव्य-सुषमा

काव्यशास्त्रियों एवं महाकवियों ने भली भांति समझकर प्राकृत काव्य-सुषमा का गुणगान किया है। कवि कहता है कि -नये-नये अर्थों की प्राप्ति, अगाध मधुरता, काव्यतत्त्व की समृद्धि, सरलता एवं संसार के प्रारम्भ से लेकर अब तक की काव्य-सुषमा, यह (सब) प्राकृत में है। यथा -

णवमत्थ-दंसण संनिवेस-सिसराओ बन्धरिद्धीओ ।

अविरलमिणमो आ-भुवणबन्धमिह णवर पाययम्मि ॥

प्राकृत भाषा की इसी मधुरता और काव्यात्मकता का प्रभाव है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के अपने लक्षण-ग्रन्थों में प्राकृत की सैकड़ों गाथाओं के उद्धरण दिये हैं। अनेक सुभाषितों को उन्होंने इस बहाने सुरक्षित किया है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में विकास की दृष्टि से भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है । अपभ्रंश को आभीरी , भाषा, देशी एवं अवहट्ठ आदि नाम भी समय समय पर दिये गये हैं । ये सब नाम अपभ्रंश के विकास को सूचित करते हैं । पश्चिमी भारत की एक बोली—विशेष **आभीरी** से अपभ्रंश प्रभावित है । जन भाषा की बोली होने से इसे **भाषा** कहा गया है । कथ्य भाषा होने से यह **देशी** कही गयी है तथा परवर्ती अपभ्रंश के लिए **अवहट्ठ** कहा गया है, जो अपभ्रंश और हिन्दी भाषा को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है । वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्था है । वस्तुतः भारतीय आधुनिक भाषाओं का जन्म उन विभिन्न लोकभाषाओं से हुआ है, जो प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित थीं ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और प्राकृत

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हिन्दी का प्रमुख स्थान है। इसे राष्ट्रभाषा होने का गौरव इसे प्राप्त है। देश के विभिन्न भागों और भाषाओं की सम्पर्क भाषा होने के कारण हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं। संस्कृत के शब्द भी इसमें ग्रहीत किये गये हैं, किन्तु हिन्दी में प्राकृत अपभ्रंश जैसी लोक-भाषाओं के शब्द भी कम नहीं हैं। हिन्दी भाषा में प्राकृत शब्द ही नहीं ग्रहण किये गये हैं, अपितु बहुत सी हिन्दी की क्रियाएँ भी प्राकृत की हैं। शब्द और धातुओं के अतिरिक्त प्राकृत की अन्य प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी में परिलक्षित होती हैं। द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, संयुक्त व्यंजनों में सरलीकरण है। विभक्तियों का अदर्शन तथा परसर्गों का प्रयोग प्राकृत अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी में होने लग गया है।

प्राकृत-अपभ्रंश पांडुलिपियों की सम्पादन-प्रक्रिया

प्राकृत-अपभ्रंश पांडुलिपियों की सम्पादन-प्रक्रिया श्रमण संस्कृति में हस्तलिखित ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा से जानी जा सकती है। लेखन कला के विकास में जैन आचार्यों, मुनियों व श्रावकों का महत्वपूर्ण योगदान है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा में यह कहा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को लिपिकला का ज्ञान दिया था। भगवान् महावीर के उपदेश बहुत समय तक मौखिक परम्परा द्वारा ही सुरक्षित रहे हैं। लगभग 1-2 शताब्दी तक संभवतः जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने की बात सोची जाने लगी थी। सम्राट खारवेल के अभिलेख में आगम लिखवाने का उल्लेख है। अनुयोगद्वारसूत्र में भी पत्रारूढ श्रुत (ग्रन्थ) को द्रव्यश्रुत माना गया है। किन्तु जैन आगमों को लिखित स्वरूप आचार्य देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में संवत् 980 में वल्लभी में आयोजित सम्मेलन में ही प्राप्त हुआ है। यद्यपि इसके पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति तथा कुन्दकुन्दाचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थलेखन का प्रारम्भ कर चुके थे।

पाठान्तर की समस्याएं

पांडुलिपि-सम्पादन में आज जो पाठान्तरों, सम्प्रदायों तथा अर्थान्तरों की समस्याएं हैं, वे प्राचीन समय में भी थीं। जैन आगम-साहित्य एवं उसके व्याख्या-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य देवर्द्धिगणि के समक्ष भी आगमों के कई मौखिक पाठान्तर प्रचलित थे। उस समय आगमों का जो सर्व प्रथम लिपिबद्ध सम्पादन हुआ उसमें उन सभी पाठान्तरों को सम्मिलित कर लिया गया था। आगे चल कर व्याख्या साहित्य में भी कई पाठान्तर सुरक्षित होते रहे हैं। अतः पाठान्तर की एक लम्बी परम्परा है। पाठान्तर होने के कई कारण हैं, जैसे –

- (1) आचार्यों की परम्परा भेद से पाठान्तर होते हैं।
- (2) जैन ग्रन्थों के लेखक प्रायः मुनि रहे हैं। वे जब किसी ग्रन्थ की पांडुलिपि का वाचन करते हुए उपदेश देते थे तो व्याख्या करते हुए कई अन्य गाथाएं आदि उसी पांडुलिपि के हाशिये पर लिख देते थे। कालान्तर में जब उस पाण्डुलिपि की प्रति लिखी जाती थी तो हाशिये पर लिखी सामग्री भी मूलग्रन्थ में सम्मिलित हो जाती थी।

- (3) इसी प्रकार मूल ग्रन्थों की व्याख्या और टीका आदि में आये हुए कई पद कालान्तर में मूलपाठ के साथ मिला दिये जाते थे।
- (4) लिपि की अस्पष्टता एवं
- (5) लिपिकार का कवित्व भी कई बार अनेक पाठान्तरों को जन्म देता रहा है।
- (6) प्रदेशगत भिन्नता से भी कई पाठान्तर पांडुलिपियों में हुए हैं।¹

अतः सम्पादन—कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ही पाठ—निर्धारण करना चाहिए। जैन ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेवसूरि के समक्ष भी प्रायः ये ही कठिनाइयाँ थीं। उन्होंने लिखा है कि अर्थबोध की सम्यक् गुरु—परम्परा (सत् सम्प्रदाय) तथा अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति (सत् ऊह) प्राप्त नहीं है। अनेक वाचनाएं हैं। पुस्तकें अशुद्ध हैं। कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं। अर्थविषयक मतभेद भी हैं।² फिर भी सम्पादन—कार्य करना है। इस प्रकार के अथवा परिश्रमी जैनाचार्यों द्वारा ही प्राचीन ग्रन्थ सम्पदा की सुरक्षा हुई है, जो आज हमारी एक थाती के रूप में है।

ग्रन्थ-भण्डारों की स्थापना

प्राकृत साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि जैन संघ की जीवन-पद्धति में ज्ञान-मीमांसा सर्वोपरि रही है। मुनि एवं गृहस्थ धर्म का महत्वपूर्ण पक्ष स्वाध्याय रहा है। आत्म-चिन्तन में स्वाध्याय जितना उपयोगी है, उतना ही शास्त्र-लेखन और ग्रन्थ-संरक्षण में उसका महत्व है। जैन समाज में प्राचीन समय से ही यह धारणा हो गयी थी कि शास्त्र-सम्बन्धी कोई भी कार्य करने से पुण्यलाभ होता है। अपभ्रंश कवि नरसेन ने वडढमाणकहा में कहा है :-

एहु सत्थु जो लिहइ लिहावइ पढइ पढावइ कहइ कहावइ ।
जो णरु-णारि एहु मणु भावइ पुणह अहिउ पुण्णफलु पावइ ॥

स्वाध्याय की इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सारे देश में ग्रन्थ-भण्डारों की स्थापना हुई है। जैन, अजैन सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सुरक्षा इन ग्रन्थ-भण्डारों के प्रबन्ध द्वारा हुई है। सम्पादन कला से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री इन जैन भण्डारों में सुरक्षित है। अतः ये ग्रन्थ-भण्डार किसी भी भाषा व साहित्य के ग्रन्थ-सम्पादन के कार्य के लिए आज अपरिहार्य हो गये हैं। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों में इस दृष्टि से विपुल और महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

पांडुलिपियों के लेखन का आधार

जैन साहित्य की पांडुलिपियों के अवलोकन से सम्पादन कला के लिए उपयोगी कई तथ्य प्राप्त होते हैं। जैन पांडुलिपियों के मर्मज्ञ विद्वान स्व. मुनि श्री पुण्य-विजय जी ने भारतीय **जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला** नामक अपने विस्तृत लेख में सम्पादनकला-सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारियां प्रस्तुत की हैं। उसमें उन्होंने बताया है कि प्राचीन पांडुलिपियां कैसे लिखी जाती थीं, उनके लेखक कौन होते थे, लेखन सामग्री क्या होती थी, लिपि का स्वरूप कैसा होता था तथा जैन पांडुलिपियों की लिपि की खास विशेषताएं क्या थीं, इत्यादि।

इन जैन ग्रन्थ-भण्डारों की पांडुलिपियों से पता चलता है कि ग्रन्थ लिखने के लिए अधिकतर ताड़पत्र, वस्त्र एवं कागज का प्रयोग किया जाता था। भोजपत्र में लिखा हुआ कोई भी जैन ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। सबसे पहले ताड़पत्र में ग्रन्थ लिखे गये हैं। पाटन, जैसलमेर, मूडविद्रि आदि के ग्रन्थ-भण्डारों में ताड़-पत्रीय पांडुलिपियां प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हैं। विद्वानों का मत है सबसे पुरानी ताड़पत्रीय पांडुलिपि जैसलमेर ग्रन्थ-भण्डार से प्राप्त हुई है। वह है, 1060 ई. में लिखी गयी **ओघनियुक्ति** की प्रति। पाटन भण्डार से से सबसे अधिक लम्बी ताड़-पत्रीय प्रति मिली है **"प्रमेयकमलमार्तण्ड"** की, जो 37 इंच लम्बी है। वस्त्र पर यद्यपि अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये, किन्तु फिर भी जैन लेखकों ने वस्त्रों पर कई सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं। पाटन के शास्त्रा-भण्डार में सबसे प्राचीन 1371 ई. का 62 पन्नों का वस्त्र पर लिखा एक ग्रन्थ मिला है। कलात्मक चित्रों के लिए वस्त्रों का पर्याप्त उपयोग हुआ है। कई प्रकार की स्याही लेखन में प्रयुक्त होती थी। स्याही की निर्माण-प्रक्रिया का वर्णन भी जैन पांडुलिपियों में उपलब्ध है।

जैन लिपि की कई विशेषताएं

देशकाल की भिन्नता के कारण जैन पांडुलिपियों की लिपि में भी कई भेद हो गये हैं। यतियों की लिपि, खरतरगच्छीय लिपि, मारवाड़ी, लहियों (लेखकों) की लिपि, गुजराती लहियों की लिपि आदि में पर्याप्त अन्तर है। ग्रन्थ-सम्पादन में इन लिपियों की भेदरेखा की जानकारी आवश्यक है तभी शुद्ध पाठ-निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि जैन लिपि की कई विशेषताएं हैं, किन्तु निम्न प्रमुख विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा :-

1. **पड़ीमात्रा** :- प्राचीन समय में अक्षरों के साथ मात्राओं को लिखने का प्रचलन था। जैन ग्रन्थ-भण्डारों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की जो पांडुलिपियां मिली हैं, उनमें प्राचीन पांडुलिपियों में पड़ी मात्रा का प्रायः प्रयोग हुआ है। पहले लिखने की सामग्री बहुत सूक्ष्म होती थी। ताड़पत्र अथवा कागज का आकार छोटा होता था। अतः अक्षरों के उपर मात्राएं कर कम लगायी जाती थीं। पृष्ठमात्रा में काम चलाया जाता था। यथा:- के = |क, कै = |के, को = |का, कौ = |को आदि। पांडुलिपि-अन्वेषकों का कहना है कि जैन पांडुलिपियों में इसी पड़ी मात्रा का प्रचलन प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक रहा है।⁸ पाठ सम्पादन में इस पद्धति का ज्ञान बहुत आवश्यक है। अन्यथा कई शब्द अशुद्ध उतार लिये जाते हैं। यथा :-

तामानिकर = (तमोनिकर) - तामा-निकर, तरोनिकर आदि ।

किसलयाकामल = (किसलय कोमल) - किसलया-कामल, आदि ।

आजकल बंगला लिपि में पृष्ठ मात्रा का प्रचलन है, जो संभवतः मगध की प्राकृत भाषा में लिखित प्रतियों का प्रभाव है।

2. अक्षरात्मक अंक :

प्राचीन जैन पांडुलिपियों की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उनमें अंको के स्थान पर या उनके साथ-साथ अक्षरात्मक अंक भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा :-

=नुं अथवा श्री 1

1 = र्ग

2. = न, स्त्रिा 2 = झर्ा

3. = म., श्री 3 = उं

4. = वो अथवा के आदि । 10. = लृ, 20 = घा 40 = र्त्

5 त्र = ऋ अथवा नृ 50 = छ 6 = फ, र्फ

जिनभद्रगणि के " जिनकल्पसूत्र" के भाष्य में मूल गाथाओं के अंक अक्षरात्मक अंकों में दिये गये हैं। अन्य पांडुलिपियों के पृष्ठ संख्या में भी अथवा छन्द संख्या आदि में भी इस प्रकार के अंकों का प्रयोग देखा जाता है। श्री भंवरलाल जी नाहटा ने अपने लेख में इस प्रकार के अंकों के कुछ उदाहरण दिये हैं।

इस प्रकार के अक्षरात्मक अंकों का परिचय त्रिाशती नामक प्राचीन गणित ग्रन्थ में दिया गया है। उसमें एक से दस हजार तक अक्षरात्मक अंक लिखे हैं। इन अंकों की सामान्य जानकारी होने से सम्पादन-कार्य में कुछ सुगमता हो सकती है। ये अक्षरात्मक अंक संभवतः मांगलिक कारणों से प्रयुक्त हुए होंगे। हो सकता है कि इनके प्रयोग में गोपनीयता भी आधार रही हो।

3. शब्दात्मक अंक :

प्राचीन पांडुलिपियों एवं पुरातात्विक साक्ष्यों में शब्दात्मक अंकों का प्रयोग भी देखा जाता है। सम्पादक के लिए इनका ज्ञान बहुत आवश्यक है। शब्दात्मक अंकों का यद्यपि कोई निश्चित कोष नहीं है, किन्तु प्रयोग के आधार पर उनके संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं। एक अंक के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग देखे जा सकते हैं। यथा :-

पितामह, चन्द्र, वसुधा = 1

नेत्र, कर्ण, बाहु = 2

लोक, काल, वचन = 3

वेद, सागर, आश्रम = 4

बाण, इंद्रिय, पांडव = 5

रस, ऋतु, लेश्या = 6

पर्वत, मुनि, अश्व = 7

सर्प, कुंजर, मंगल = 8

निधि, तत्व, हरि = 9

दिशा, कर्ण, प्राण = 10

नख = 20, जिन = 24,

देव = 33 कला = 72 आदि ।

शब्दात्मक अंकों के प्रयोग वाली पांडुलिपियों के सम्पादन में बहुत सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा पंक्ति के आगे लिखा हुआ अंक (शब्दात्मक) भी पाठ में सम्मिलित हो सकता है। इन शब्दों के ज्ञान के द्वारा तिथि आदि के निश्चय करने में भी सहायता मिलती है।

4. पांडुलिपि-संशोधन के संकेत :

प्राचीन पांडुलिपियों को लेखक लिखकर अथवा लिखवाकर उसे फिर संशोधन की दृष्टि से पढ़ते थे। उस समय मूल पाठ में जिस प्रकार के संशोधन की आवश्यकता होती थी उसे विशेष चिन्ह द्वारा अंकित कर पत्र के हाशिये में लिख दिया जाता था। पांडुलिपि-सम्पादन में इस प्रकार के संशोधनों का बड़ा महत्व है। जैन परम्परा में गुरु-शिष्य की अनवरत परम्परा होने के कारण ऐसे संशोधन प्रायः होते रहते थे। कुछ पांडुलिपियां स्वयं लेखक द्वारा भी संशोधित पायी जाती हैं। संशोधन के इन संकेत-चिन्हों के कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं :-

1. छूटे हुए पाठ को दिखाने वाले चिन्ह - आदि ।
2. आकारांत मात्रादर्शक चिन्ह
3. अन्य अक्षरसूचक चिन्ह (जैसे पओहर = पओधर)
4. अक्षर बदल जाने पर 2-1 यथा-चरण = चण 21 र)
5. छूटे हुए पाठ की पंक्ति का नम्बर -पं. ओ.।
6. शब्द और अक्षर का भेद । यथा- भहणह = महणह
7. विभाग दर्शक संकेत- ।। यथा- श्लोक का एक चरण आदि
8. विभक्ति, वचन दर्शकचिन्ह-1-1, 2-2, 3-3 =
9. शब्द का पर्याय सूचक चिन्ह = यथा-शशि = चन्द्र आदि ।

विशेषण, विशेष्यसूचक चिन्ह- यथा-क्षीणे शरीर आदि ।

ये कुछ सामान्य संशोधन दर्शकचिन्ह हैं। इनके स्वरूप में भी विभिन्न पांडुलिपियों के प्रयोग में अन्तर आ गया है। किन्तु अभ्यास से उन्हें समझा जा सकता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में कुछ विशेष प्रकार के चिन्ह प्रयुक्त पाये जाते हैं।

5. भाषागत विशेषताएं

देश की प्रायः सभी भाषाओं में जैन साहित्य लिखा गया है। प्राकृत और अपभ्रंश इस साहित्य की प्राचीन भाषाएं रही हैं। इन भाषाओं की हजारों पांडुलिपियां ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध हुई हैं, जिनमें से अद्यावधि बहुत कम प्रकाशित हो पायी हैं। इन पांडुलिपियों में विभिन्न कालों की देश में प्रचलित लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्राकृत एवं अपभ्रंश व्याकरण से सम्मत शब्दों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी इन ग्रन्थों में हुआ है, जिन्हें देशज शब्द कहा जाता है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में ऐसे अनेक शब्दों का संग्रह किया है। किन्तु उसके बाहर के भी हजारों देशी शब्द जैन साहित्य की पांडुलिपियों में प्रयुक्त हुए हैं। सम्पादकों की सूक्ष्म दृष्टि एवं भाषागत बहुज्ञता ऐसे शब्दों के अर्थ खोजने में सहायक होती है। अतः जैन साहित्य का इस प्रकार से अध्ययन करने से अन्य ग्रन्थों के सम्पादन-कार्य में सहायता मिल सकती है। प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त कुछ देशज शब्द^१ द्रष्टव्य हैं :-

णूम = माया,

अन्दु = जंजीर ,

वोंदि = शरीर,

जडु = हाथी,

घडा = गोष्ठी ,

ओम = दुर्भिक्ष ,

कमणी = जूते,

फेल्ल = दरिद्र ,

सिग्ग = परिश्रम

पांडुलिपि-सम्पादन में हर शब्द का अर्थ कोश अथवा व्याकरण की सहायता से नहीं खोजा जा सकता। प्रसंग और लोक-प्रचलन को भी आधार बनाया जा सकता है। अतः अपरिचित शब्द को पाठान्तर में डालने का ही विकल्प नहीं है। उसके सही अर्थ को खोजने का प्रयत्न भी किया जा सकता है।

चित्रित पाण्डुलिपियां

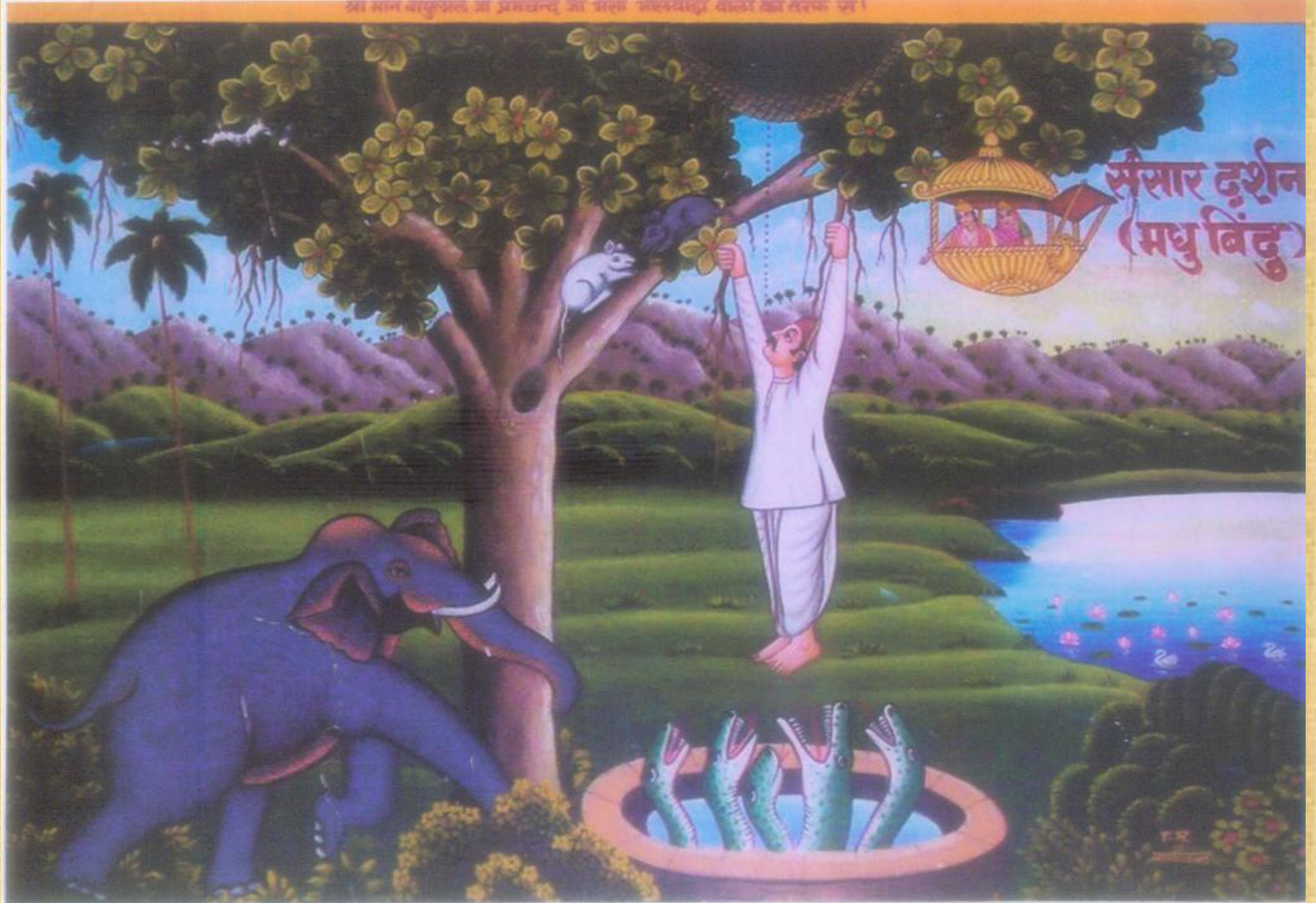
प्राकृत एवं अपभ्रंश की अनेक पाण्डुलिपियों में विषय से सम्बन्धित चित्र प्राप्त होते हैं। यथा—

1. षट्खण्डागम की पाण्डुलिपियां
2. यशोधरचरित की पाण्डुलिपियां
3. आदिपुराण की पाण्डुलिपियां
4. भक्ताम्बर स्तोत्र की पाण्डुलिपियां
5. षट्लेख्या चित्र
6. संसार दर्शन चित्र

षट्केश्या दृशन



संसार दर्शन : मधुबिन्दु दृष्टान्त



सम्पादकों की सम्पादन कला

आधुनिक भाषाओं की पांडुलिपियों में बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त मिल सकते हैं, जिनका मूल रूप संस्कृत में प्राप्त न हो। वे शब्द प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से भी सीधे आ सकते हैं। क्योंकि आज भी बहुत से प्राकृत के शब्द हमारी बोलचाल की भाषा अथवा साहित्य में प्रयुक्त हो रहे हैं। इस दृष्टि से भी हिन्दी पांडुलिपियों के सम्पादन में प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का ज्ञान उपयोगी होगा।

प्राकृत-अपभ्रंश की पांडुलिपियों की समस्त विशेषताओं को प्रदर्शित करना श्रम-साध्य और अनुभव का कार्य है। उनका सम्पादन कैसे करना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी कोई दिग्दर्शक पुस्तक लिखे जाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु विगत सौ वर्षों में प्राकृत-अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाश में आये हैं। विदेशी एवं भारतीय विद्वान सम्पादकों ने इन ग्रन्थों के सम्पादन में जो पद्धतियां अपनायी हैं, वे आज सम्पादन कला की दस्तावेज के रूप में मानी जा सकती हैं। इन सम्पादित ग्रन्थों के प्राक्कथनों के अध्ययन से सम्पादन कला की कई बारीकियां सीखी जा सकती हैं। इस दृष्टि से डॉ. पी. एल. वैद्य, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, मुनि श्री पुण्यविजय जी, मुनि श्री जिनविजय जी, पं. दलसुख भाई मालवणिया, डॉ. एच.सी. भायाणी आदि ख्यातिप्राप्त सम्पादकों के ग्रन्थ सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त होने वाले विद्वान को अवश्य देखने चाहिए। और उसे बनारस, कलकत्ता, जयपुर, जोधपुर, लाडनू अहमदाबाद, बड़ौदा, पूना आदि स्थानों में स्थित शोध संस्थानों में जाकर सम्पादन-कला का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। तभी अभीष्ट ग्रन्थ-विशेष का सर्वांगीण सम्पादन-कार्य संभव है। प्राकृत-अपभ्रंश भाषा के ज्ञान के लिए अपभ्रंश अकादमी, जयपुर के पाठ्यक्रम एवं पुस्तकें भी उपयोगी हैं।

प्राकृत-अध्ययन की कुछ दिशाएं

1. प्राकृत-अपभ्रंश पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण एवं सूची-निर्माण ।
2. प्राकृत अपभ्रंश की अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का सम्पादन- अनुवाद
3. सम्पादित प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों का अनुवाद एवं अध्ययन ।
4. प्रकाशित प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन ।
5. प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रन्थों में प्राप्त भारतीय इतिहास एवं समाज विषयक सामग्री का संकलन एवं अनुवाद ।
6. प्राकृत के शिलालेखों का सानुवाद संग्रह-संकलन एवं प्रकाशन ।
7. प्राकृत कथाकोश एवं अपभ्रंश कथा-कोश ग्रन्थों का निर्माण ।
8. प्राकृत भाषाओं का बृहत् व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण ।
9. प्राकृत बृहत् शब्दकोश का निर्माण एवं प्रकाशन । पूना में कार्य
10. जैनविद्या पर अद्यावधि प्रकाशित शोध-लेखों का सूची-करण ।

11. प्राकृत कवि-दर्पण में प्रमुख प्राकृत कृतिकारों के व्यक्तित्व एवं योगदान का प्रकाशन । प्राकृत रत्नाकर का प्रकाशन
12. प्राकृत एवं भारतीय भाषाएं नामक पुस्तक का लेखन एवं प्रकाशन ।
13. संगीत पक्ष को उजागर करने के लिए प्राकृत गाथाओं के कैसेट तैयार करना ।
14. प्राकृत कम्प्यूटर फीडिंग एवं प्राकृत लैंग्वेज लैब की स्थापना एवं संचालन ।
15. विश्वविद्यालयों में जैनविद्या एवं प्राकृत शोध विभागों को सशक्त करना
16. जैनविद्या एवं प्राकृत के शिक्षण एवं शोधकार्य के लिए छात्रवृत्तियों एवं शोधवृत्तियों की सुविधा प्रदान करना ।
17. प्रतिवर्ष कम से कम दो प्राकृत संगोष्ठियों का आयोजन करना ।
18. प्राकृत अध्ययन की स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में सहयोग ।
19. प्रति वर्ष प्राकृत-अपभ्रंश की पांच नयी कृतियों का सम्पादन- प्रकाशन ।
20. प्रतिवर्ष प्राकृत-अपभ्रंश एवं जैनविद्या के समर्पित विद्वानों का सम्मान ।
21. विदेश में सम्पन्न प्राकृत-अपभ्रंश जैनविद्या के कार्यो का सार-संक्षेप हिन्दी-अंग्रेजी में उपलब्ध कराना ।

सन्दर्भ

1. अंगसुत्तणि, भूमिका, मुनि नथमल

2. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति 1.2

सत्सम्पद्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः ।

सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥1॥

वाचनाननामकेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः ।

सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्राचित् ॥ 2 ॥

3. डॉ. कासलीवाल, जैन ग्रन्थ भण्डाराज इन राजस्थान , पृष्ठ 3-7

4. डॉ. कासलीवाल, राजस्थान के जैन शास्त्र –भण्डारों की सूची (1-5 भाग)

5. लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के पुस्तकालय में उपलब्ध सामग्री ।

6. डॉ. कासलीवाल, जैन ग्रंथ भंडाराज् इन राजस्थान, पृष्ठ 13

7. श्री भंवरलाल नाहटा, जैन लेखन कला, राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ 400-401

8. भंवरलाल नाहटा, वही , पृष्ठ 402

9. द्रष्टव्य, प्राकृत साहित्य का इतिहास , डॉ. जे.सी. जैन, पृष्ठ 693

10. द्रष्टव्य, ज्ञानपीठ पत्रिका, वर्ष 7, अंक 3 (1968)

11. महापुराण –पी. एल. वैद्या , कुवलयमालाकहा –ए. एन. उपाध्ये,
गायकुमारचरिउ– हीरालाल जैन,

पउमचरिउ–भायाणी , जंबुसामीचरिउ–विमल प्रकाश जैन , आदि ।